

तेशेषिकदर्शनम्

वैशेषिकदर्शन एक दृष्टि में

वैशेषिकदर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। सेतों से घन के कण चीनकर अपने उदर की पूर्ति करने के कारण इनका यह नाम पड़ा था। इस ग्रन्थ में दस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो-दो प्राञ्जिक हैं; और सूत्रों की संख्या ३७० है। महर्षि कणाद ने भी पहले ही अध्याय में अपने दर्शन का उद्देश्य बतला दिया है। वह उद्देश्य है निःशेषतः भवना मोक्ष की प्राप्ति।

वैशेषिक का अर्थ है—

विशेषं पदार्थमधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्।

विशेष (वृथ्वादि परम सूक्ष्म भूतलक्ष्यों का नाम विशेष है) नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक है।

वैशेषिक का सार है—

१. पदार्थ सत् है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

२. द्रव्य नौ है—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

३. गुण बीबीस हैं—रस, रस, कण, गन्ध, शब्द, लक्ष्मा, विभाग, संयोग, परिमाण, पार्थक्य, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, मूल, कुल, दण्डा, द्वेष, धर्म, अधर्म, प्रवृत्त, संस्कार, स्नेह, गुणत्व और अवश्य।

४. कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्प्रेषण, अवशेषण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

५. सामान्य दो प्रकार का होता है—सत्तात्मान्य और द्रव्यत्वादि (विशिष्ट) साधन्य।

६. विशेष—विशेष किसी पदार्थ की उस सत्ता का नाम है, जो उसे अन्य पदार्थों से भिन्न विश्रज्जता है।

७. समवाय—दो वस्तुओं के निम्न सम्बन्ध की समवाय कहते हैं, जैसे गुलाब में सुगन्धि, मनुष्य में मनुष्यता।

वैशेषिकदर्शन के मूल सिद्धान्त निम्न हैं—

१. परमाणुवाद—जगत् के मूल उत्पादक कारण परमाणु हैं। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से विभिन्न वस्तुएँ बनी हैं।

२. अनेकारणवाद—आत्माएँ अनेक हैं और कर्मकलभीय के लिए भिन्न-भिन्न शरीर धारण करती हैं।

३. असत्कार्यवाद—कारण से कार्य उत्पन्न होता है और कार्य अनिस्त है।

४. परमाणुनिष्पत्तावाद—परमाणु नित्य हैं, अवयवरहित होने के कारण उनका नाश नहीं होता।

५. सृष्टिवाद—दिना कारण के कार्य नहीं होता। जगत् कार्य है और उसका कर्ता ईश्वर है।

६. मोक्षवाद—आत्ममन के चक्कर से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना जीव का चरम लक्ष्य है।

वैशेषिकदर्शनम्

प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम्

समाप्तौ धर्मः ॥१॥

विश्व विनाश के अनन्तर, जिनको के उपरिष्ठ होने के कारण सब ह्य धर्म की व्याख्या करेंगे ।

मलोऽन्धुदधनिःश्वेतसिद्धिः स धर्मः ॥२॥

जिससे सम्पुद्ग — दहलीजिक और निःश्वेत — पारवीर्यिक गुण की सिद्धि होती है, वह धर्म है ।

तत्त्वज्ञानादन्नाद्यस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

तत् = धर्मप्रवचन साधन होने के वेद का प्रामाण्य है अथवा तत् — मित्य विशेष ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता है ।

धर्मविशेषप्रसूताद् इन्द्रगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्वेतसम् ॥४॥

धर्मविशेष के उत्पन्न १. इन्द्र, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय नामक छह पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य (साधारण और असाधारण विशेषताओं) के तत्त्वज्ञान से युक्ति होती है ।

पूर्विष्वापस्त्येजो वायुराकाशं काली विमलमा मन इति इन्द्र्यानि ॥५॥

पूर्विषी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल — समय, दिशा, आत्मा और मन — ये ही इन्द्र हैं ।

अपरतमप्राप्यताः संख्याः परिमाणानि पुषकत्वं संयोगविभागी वरत्वावरत्वे

मुद्रयः सुखदुःखे इन्द्रादौषी प्रवत्तावन मृणाः ॥६॥

अप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पुषकत्व = प्रत्यक्ष होना, संयोग, विभाग, वरत्त्व = बुर होना, अपरत्व = कमी होना, मुद्रि, सुख, दुःख, इन्द्रा, देव, प्रपत्त और (इन्द्रा = भारीपन, इन्द्रा = विघनावन, स्वेह = किसी पदार्थ को पिघल बना देने की क्षमता, संस्कार, धर्म = पुष्यकर्म, अपर्य = वापकर्म, शब्द) — ये चौबीस गुण हैं ।

उत्तरोपपन्नसोपपन्माकुञ्चनं अक्षारणं यस्मिन्मिति कर्माणि ॥७॥

१. उत्तरोपपन्न = ऊपर की ओर फेंकना, २. अक्षरोपपन्न = नीचे की ओर गिराना, ३. आकुञ्चन = सिकुटना या सिकोड़ना, ४. अक्षारण = फेंकना-फेंकाना और ५. यस्मिन् = जिसमें सब प्रकार की सामान्य क्रिया — ये कर्म हैं ।

सद्वित्तत्वं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुण-

कर्मभावमविवेकः ॥८॥

सत्ता से युक्त होना, धनित्व—विनाशी होना, द्रव्य से सम्बद्ध होना, कार्य—उत्पन्न होनेवाले, कारण—किसी अन्य कार्य के प्रति कारण होना, सामान्य धर्मयुक्त होने पर भी एक-दूसरे से भिन्न रहनेवाले—ये द्रव्य, गुण और कर्मों के सामान्य धर्म हैं।

द्रव्यगुणद्वौ सत्तातीव्यारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥९॥

द्रव्य तथा गुण पदार्थों का अपने समान जाति के पदार्थों को उत्पन्न करना साधर्म्य—समान धर्म है।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥१०॥

पृथिव्यादि बहुल-से द्रव्य मिलकर दूसरे द्रव्य को और गुण अपने सत्तातीव्य दूसरे गुणों को उत्पन्न करते हैं।

कर्म कर्मसाध्यं न विच्छेत्ते ॥११॥

द्रव्य और गुण के समान एक कर्म के दूसरा कर्म, एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न नहीं होती।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च धवति ॥१२॥

कोई भी द्रव्य अपने कार्य और कारण को नष्ट नहीं करता।

अवयवा गुणाः ॥१३॥

भिन्नु गुण दोनों प्रकार से अर्थात् अपने कार्यगुण तथा कारणगुण से भी नष्ट हो जाते हैं।

कार्यविरोधि कर्म ॥१४॥

कर्म अपने कार्य से नष्ट हो जाता है।

किमगुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यतत्त्वम् ॥१५॥

क्रिया तथा गुण के साध्य और समवायिकारण को द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यभेदगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमन्वेष इति गुणतत्त्वम् ॥१६॥

द्रव्य में साधित होनेवाले, गुणरहित तथा संयोग और विभाग में कारण न होने और निरपेक्ष होने, उन्हें गुण कहते हैं।

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वन्वेषकारणमिति कर्मतत्त्वम् ॥१७॥

एक ही द्रव्य में साधित, गुणरहित—गुण का अभाव, संयोग और विभाग को उत्पन्न करने में निरपेक्ष कारण होना—यह कर्म का लक्षण है।

द्रव्यगुणकर्मानां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

ती द्रव्य, बीबीस गुण और पाँच कर्मों का द्रव्य ही समवायि (धनित्व) कारण होता है, इतने अंश में तीनों में साधर्म्य—समानता है।

तथा गुणः ॥१९॥

वैसे ही गुण भी द्रव्य, गुण तथा कर्म का असमवायि (धनित्व) कारण है।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

संयोग, विभाग और वेग—इन तीनों का कर्म समान कारण है।

न इत्यानां कर्म ॥२१॥

कर्म इन्हीं का कारण नहीं होता, अर्थात् इन्हीं की उत्पत्ति कर्म से नहीं होती ।

अतिरेकात् ॥२२॥

इन्हीं उत्पत्ति से पूर्व ही कर्म का घटित हो जाने के कारण कर्म इन्हीं का कारण नहीं हो सकता ।

इत्यानां इन्हीं कार्य सामान्यम् ॥२३॥

अनेक इन्हीं का यह सामान्य — सामान्य कार्य है कि वे कार्यकर्म इन्हीं की उत्पत्ति करें ।

गुणवैकल्यात् कर्मणां कर्म ॥२४॥

इन्हीं तथा गुणों से वैकल्य होने के कारण अनेक कर्म मिलकर एक कर्म उत्पन्न नहीं कर सकते ।

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पुनस्तत्संयोगविभागात् ॥२५॥

दो से लेकर वरार्यवर्षांत संख्या, पुनस्तत्, संयोग और विभाग—इन्हीं गुण अनेक इन्हीं से ही उत्पन्न होते हैं, एक से नहीं ।

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥२६॥

कर्मों का इन्हीं से असमवाय — नित्य सम्बन्ध न होने के कारण कर्मों को अनेक इन्हीं का कार्य मानना प्रमाथसिद्ध नहीं है ।

संयोगानां इन्ध्यम् ॥२७॥

दो अथवा अनेक संयोगों का कार्य एक इन्ध्य होता है ।

कर्मणां कर्मम् ॥२८॥

अनेक कर्मगुणों का एक कर्मगुण कार्य होता है अर्थात् कर्म से कर्म की उत्पत्ति होती है ।

गुणत्वप्रयत्नसंयोगानामुल्लेखम् ॥२९॥

गुणत्व, प्रयत्न और संयोग—इन सब गुणों का उल्लेखकर्म एक कार्य है ।

संयोगविभागाच्च कर्मणाम् ॥३०॥

संयोग और विभाग कर्मों के कार्य हैं ।

कारणसामान्ये इन्ध्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥३१॥

कारणसामान्य के प्रकरण में यह कहा गया है कि इन्ध्य और कर्मों का कारण कर्म नहीं हो सकता ।

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथमभाष्यम् ॥

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कारणाभावात्कार्यभावः ॥१॥

कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव होता है । (तन्तु यदि कारणों के न रहने पर बरसादि कार्य भी नहीं होते ।)

न तु कार्याभावात्कारणाभावः ॥२॥

परन्तु कार्य का अभाव होने पर भी कारण का अभाव नहीं होता ।

सामान्य विशेष इति ब्रुव्येकम् ॥३॥

सामान्य और विशेष—ये दो प्रकार के वदार्थ बुद्धि = ज्ञान की अपेक्षा से होते हैं ।

भाषाभोगुणैरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥

भाव :—सत्ता केवल सामान्य है क्योंकि वह अनुभूति = बुद्धि का हेतु होती है, व्याप्ति का नहीं ।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥

द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व—ये तीनों तथा पृथिवीत्व, लवणत्व और वरुणत्व आदि जातिमा—ये सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की हैं ।

अव्यक्तान्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥६॥

अथ 'विशेष' पदार्थ को छोड़कर (सामान्य के विषय में) सामान्य और विशेष शब्द का प्रयोग किया गया है ।

सर्विति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥७॥

द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीनों में जिस पदार्थ से ऐसा ज्ञान और व्यवहार होता है कि वे 'सत्' हैं—वह धर्म 'सत्तासामान्य' कहलाता है ।

द्रव्यगुणकर्मन्योऽर्थातिरं सत्ता ॥८॥

परन्तु वह सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म से भिन्न पदार्थ है ।

गुणकर्मसु च भाषात्म्यं कर्म न गुणः ॥९॥

सत्ता गुण और कर्म में विद्यमान रहने पर भी, वह सत्ता गुण और कर्म नहीं हो सकती क्योंकि गुण में दूसरा गुण और कर्म में दूसरा कर्म नहीं रह सकता ।

सामान्यविशेषभावेन च ॥१०॥

सामान्यविशेष के अभाव के कारण भी 'सत्ता' द्रव्य, गुण और कर्मों से भिन्न है ।

धनेकद्रव्यवस्त्रेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥११॥

द्रव्यभाव में रहने वाले धर्म को द्रव्यत्व कहा गया है ।

सामान्यविशेषभावेन च ॥१२॥

द्रव्यत्व में सामान्यविशेषात्मक द्रव्यत्व के न रहने के कारण द्रव्यत्व को द्रव्य से भिन्न कहा गया है ।

तथा गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम् ॥१३॥

रूप, रस आदि बीबीस गुणों में समवायसम्बन्ध से वर्तमान धर्म को गुणत्व कहा गया है ।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१४॥

गुणत्व में भी सामान्यविशेषात्मक गुणत्व के अभाव के कारण गुणत्व को गुण से भिन्न कहा गया है ।

कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम् ॥१५॥

सभी प्रकार के कर्मों में रहनेवाले धर्म को कर्मत्व कहा गया है ।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१६॥

कर्मत्व में भी सामान्यविशेषात्मक कर्मत्व के अभाव के कारण कर्मत्व को कर्म से भिन्न कहा गया है ।

सधिति लितविशेषाद् विशेषलितभावात्कर्मको भावः ॥१७॥

द्रव्य, गुण, कर्म—तीनों में भाव अथवा सत्ता एक ही है क्योंकि 'है' इस प्रतीति में किसी प्रकार का परिवर्तन न होने से तथा भेदक बिह्व अथवा अनुमान के भी अभाव में (द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहनेवाली) सत्ता एक ही सिद्ध होती है ।

॥ इति प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ द्वितीयेऽध्याये प्रथममाह्निकम्

कपरस्तमन्वस्पर्शवातो वृषिर्षी ॥१॥

कप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणोंवाले इन्द्र्य को वृषिर्षी कहते हैं । (वृषिर्षी कप, रस, गन्ध तथा स्पर्शवाली है ।)

कपरस्तस्पर्शवात्य वायो इवाः स्मिन्धः ॥२॥

कप, रस, स्पर्श, इन्द्रिय—कहनेवाले तथा स्नेहगुणों से युक्त इन्द्र्य को वाय कहते हैं ।

तेजो कपस्पर्शवात् ॥३॥

युक्त आकार कप तथा उष्ण स्पर्शवाले इन्द्र्य का नाम तेज—अग्नि है ।

स्पर्शवान् वायुः ॥४॥

स्पर्श गुणवाला इन्द्र्य वायु है । (वायु स्पर्श गुणवाला है ।)

त साक्षात् न विद्यन्ते ॥५॥

ये—कप, रस, गन्ध और स्पर्श नामवाले चार गुण साक्षात् में उपलब्ध नहीं होते । (साक्षात् काल, दिशा, आत्म, मन सभी का उपलक्षण है ।)

सर्विर्गुणवृष्णिष्ठानामग्निसंयोगात् इन्द्रस्पर्शज्जुः सामान्यम् ॥६॥

घृत, ताल और मीम—इन वस्तुओं को चर्बी पड़नेवाले से इनमें इन्द्र—ब्रह्म उपलब्ध हो जाता है, इतने अंश में इनकी जलों के साथ समानता है ।

जमुसीमनोहरजतमुज्ज्वलामग्निसंयोगात् इन्द्रस्पर्शज्जुः सामान्यम् ॥७॥

इसी प्रकार रीता, सीता, मोहा, चाँदी और सोना—इन वस्तुओं में भी अग्नि के संयोग से इन्द्र उपलब्ध हो जाता है, इतने अंश में इनकी जलों के साथ समानता है ।

विषाणी ककुषान् प्रान्तधानिभिः सप्तनावानिति गोत्रे वृष्टं तिसम् ॥८॥

सींगों से युक्त होना, ऊँची ककुष—टाकवाला होना, पूँछ के अन्तिम भाग में बाल होना और सप्ता—गमकम्बलयुक्त होना—ये गोत्र के प्रत्यक्ष लक्षण हैं ।

स्पर्शज्य वायोः ॥९॥

स्पर्शगुण वायु के जावने का चिह्न—सामान्य है ।

त च वृष्टानां स्पर्श इत्यनुष्ठितियो वायुः ॥१०॥

स्पर्श प्रत्यक्षभिद्ध वृषिर्षी, जल और तेज का गुण नहीं है, इसलिए अष्ट वृष्ट वायु का ही यह चिह्न है ।

अद्वयवस्त्वेन इन्द्र्यम् ॥११॥

इन्द्र्य में अनाश्रित होने के कारण परमाणुरूप वायु भी इन्द्र्य है ।

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥१२॥

नित्याश्रयः—नित्याश्रयान् और स्पर्श साति गुणों के आश्रय होने के कारण भी वायु-परमाणु द्रव्य ही है।

अद्वयत्वाच्चैव नित्याश्रयमुक्तम् ॥१३॥

किसी अन्य अवयव द्रव्य से उत्पन्न न होने के कारण वायु-परमाणु को नित्य कहा गया है।

आधीर्वायुसंयुक्तानं नाशाय तिमम् ॥१४॥

जो वा दो से अधिक वायुलक्ष्णों की परस्पर टकरा होने से अनेक वायुघूर्णों के होने का अनुमान होता है।

वायुलक्षणिकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् बृद्धं तिम न विद्यते ॥१५॥

वायु के अत्यन्त समीप होने पर भी उसे आँस से नहीं देखा जा सकता, इसलिये उसके श्रिय स्पर्श को भी दृष्ट नहीं माना जा सकता।

सामान्यतोदृष्टात्त्वाविशेषः ॥१६॥

सामान्यतोदृष्टः—साधारणमुक्त अनुमान से तो केवल अनुमूयमान स्पर्श के आश्रयभूत एक द्रव्य की सामान्य रूप से सिद्धि होती है, न कि 'वायु' इस द्रव्यविशेष की।

सस्मादापक्षिकम् ॥१७॥

प्रमाथानुसार वायु का ज्ञान आश्रय—वेद के आधार पर होता है।

संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां तिमम् ॥१८॥

इन विशिष्ट पदार्थों का नाम और कर्म हम दोनों से विशिष्टों (परमेश्वर और योगियों) की अनुमति में हेतु है।

प्रत्यक्षप्रयुक्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥१९॥

संज्ञा और कर्म का प्रवर्तक ईश्वर है क्योंकि उसको सब पदार्थ प्रत्यक्ष हैं।

निरुक्तमग्नं प्रवेशनमित्याकाशस्य तिमम् ॥२०॥

निकलना और प्रवेश करना—इस प्रकार की क्रिया का सम्भव होना आकाश के अस्तित्व के चिह्न है।

तदतिमयेकद्रव्यात् कर्मणः ॥२१॥

निकलना और प्रवेश करना—कर्म स्पर्शवाने द्रव्यों के हैं और आकाश स्पर्श-रहित है, अतः वे आकाश के लक्षण नहीं हो सकते।

कारणान्तरानुक्तमुक्तिर्बैधर्म्याच्च ॥२२॥

आकाश समवाद—संयोगरहित है, अतः वह किसी वस्तु का समवायिकारण भी नहीं हो सकता, इसलिये निकलना और प्रवेश करना—ये दोनों कर्म आकाश की सिद्धि में प्रमाण नहीं माने जा सकते।

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।

वेदसम्बन्ध एवादी पृथक् संस्वादन निर्गमे ॥ —मनु० १।२०

सर्व के आरम्भ में ब्रह्मा आदि श्रुतियों ने सब वस्तुओं के नाम और उनके कर्म तथा कर्माधम आदि की व्यवस्था का वेदोक्त शब्दों के आधार पर ही निर्माण किया।

संयोगाभावात् कर्मणः ॥२३॥

अनरोधक संयोग से श्रिया का अभाव हो जाता है । आकाश निकलने और प्रवेश करने का निमित्त कारण है— उसी रूप में ये आकाश के लिए हैं ।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥२४॥

कारण में जो गुण होते हैं वही कार्य में भी देखे जाते हैं ।

कार्यान्तरप्रभुर्भावाच्च शब्दः स्वसंज्ञतामगुणः ॥२५॥

शब्द स्पर्शवाले पृथिवी आदि का गुण नहीं है क्योंकि पृथिव्यादि ॥ कार्य दृष्ट-पटादि से शब्द प्रकट नहीं होता अतः शब्द को आकाश का ही गुण मानना होगा ।

परम समवायात् प्रत्यक्षावाच्य नाशगुणो न सन्तो गुणः ॥२६॥

आत्मा से भिन्न द्रव्यों में शब्द के समवेत होने से शब्द को आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता और व्यक्त —काल से प्रकट होने के कारण शब्द को मन, रिक् तथा काल का गुण भी नहीं माना जा सकता ।

परिचोचान्तिगम्यताशब्द ॥२७॥

अतः परितेजः— अवशिष्ट अनुमान से यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का ही लक्षण है ।

द्रव्यवन्तिवत्त्वे चाप्युक्त्या व्याख्याते ॥२८॥

आकाश के द्रव्यत्व और निराल्प को वायु के समान ही समझना चाहिए ।

तत्त्वं भावेन ॥२९॥

आकाश द्रव्य सत्तावृत्ति के समान एक है, न कि अनेक ।

शब्दलक्षणविशेषाद् विशेषनिगमावाच्य ॥३०॥

शब्द रूप की विशेषता न होने से, शब्दलक्षण के सामान्य होने से और विशेष लक्षण का अभाव होने से भी आकाश वन एक होना सिद्ध है ।

तदनुविधानमेकपुत्रकत्वं चेति ॥३१॥

एकपुत्रकत्व एकत्व का अनुसरण करता है अतः एकत्वपुत्र आकाश का एक-पुत्रकत्व भी सिद्ध है ।

॥ इति द्वितीयाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

पुण्यवशयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तरप्रभुर्भावो वरुते सम्वाभावातिगम् ॥१॥

पुण्य और वरुण के संयोग होने पर भी अन्य गुण का प्रकट न होना वरुण में शब्द के अभाव का चिह्न है ।

एतेनानुपपत्ता व्याख्याता ॥२॥

इससे जल में उष्णता की व्याख्या भी समझ में नहीं चाहिए अतः जल में उष्णता औपचारिक है ।

विरोधमूतं मूलम् ॥११॥

समूत (बर्षा का प्रभाव) मूत (बर्षा की विद्यमानता) का विरोधी लिङ्ग है। यह विरोधी लिङ्ग का उदाहरण है।

मूलममूलम् ॥१२॥

जी है, यह न हूए का विरोधी लिङ्ग है।

मूली मूलम् ॥१३॥

जी है, यह हूए का विरोधी लिङ्ग है। (विद्यमान वस्तु भी अन्य विद्यमान वस्तु की सिद्धि में विरोधी लक्षण है जैसे साँप और गधुल परस्पर विरोधी होते हुए भी एक स्थान पर पाये जाते हैं।)

प्रतिष्ठिपूर्वकत्वावधेयम् ॥१४॥

अपदेश — हेतुनिर्देश तो प्रतिष्ठिपूर्वक — व्याप्तिज्ञानपूर्वक प्रथमा साध्य-साधन के निमित्त साध्यत्व की प्रथम जानकारीपूर्वक ही होता है।

प्रतिष्ठिपूर्वकत्वावधेयम् सन्निध्यव्यवहारः ॥१५॥

प्रतिष्ठि — व्याप्ति से रहित हेतु हेतु नहीं, हेत्वाभास होता है तथा वस्तु — प्रतिष्ठि, विषय और सन्निध्य — सम्यक्प्रचार, धर्मीकान्तिक भी हेत्वाभास होते हैं।

व्यवहारिकाधी तत्त्वावधेयः ॥१६॥

क्योंकि यह सीगोचारा है, इसलिए प्रोक्त है। (यह प्रतिष्ठि हेत्वाभास का उदाहरण है क्योंकि जिस-जिसे सीग हों वह प्रोक्त कभी नहीं होता।)

व्यवहारिकाधी तत्त्वाद् योरिति धर्मीकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१७॥

क्योंकि यह सीगोचारा है सतः सतः है, यह धर्मीकान्तिक हेतु का उदाहरण है। (सीग प्रकटीकार के भी देखे जाते हैं, सतः सतः में यह हेतु असाधारण हेतु नहीं अपितु प्रतिष्ठापित है।)

आत्मैन्द्रियार्थसन्निकर्षावधेयम् तत्त्वम् ॥१८॥

आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह आत्मा का अनुमानक होता है। यह उपर्युक्त हेत्वाभासों से विन्म है (यह उसके द्वारा सम्पन्न अनुमति प्रसार है)।

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यक्षमनि वृत्ते परम् लिङ्गम् ॥१९॥

जैसी प्रवृत्ति — राग से उत्पन्न प्रयत्न और निवृत्ति — द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न ज्ञाने आत्मा में देखे जाते हैं, ऐसी ही प्रवृत्ति और निवृत्ति पर-शरीर में देखी जाने पर वही भी आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है।

॥ इति तृतीयाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ तृतीयाऽध्याये द्वितीयमाहिकम्

आत्मेन्द्रियात्मनिकर्म्म आत्मस्य भावोऽप्यस्यैव मनसो लिङ्गम् ॥१॥

आत्मा, इन्द्रिय और चर-चर आदि सबों का सन्निकर्म्म होने पर ज्ञान का होना और न होना मन की सिद्धि में हेतु है ।

तस्य इत्यस्यनित्यत्वे बाधुना व्याख्याते ॥२॥

मन का इत्यस्य और निरवयव बाधु (परमाणु) के समान ही समझना चाहिए ।

प्रत्यक्षादीन्प्रत्यक्षाभाषीन्प्रत्यक्षात्मिकम् ॥३॥

एक काल में धर्मिक प्रत्यक्ष और एक काल में अधर्मिक प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष होने के कारण यह सिद्ध होता है कि एक शरीर में एक ही मन है ।

आपापाकनिमेषोन्मेषजीवनमनोऽन्तरीक्षान्तरविकाराः

सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गमिति ॥४॥

आप-आपाक, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनोवृत्ति, इन्द्रियान्तरविकार, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, और प्रयत्न—आत्मा के लिङ्ग—चिह्न, साधक हेतु हैं ।

तस्य इत्यस्यनित्यत्वे बाधुना व्याख्याते ॥५॥

उक्त आत्मा का इत्य होना और निमेष होता बाधुपरमाणु के विषय में कही गई रीति से व्याख्यात समझना चाहिए ।

यजदत्त इति सन्निकर्म्म प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न लिङ्गो ॥६॥

‘यद् यजदत्त है’—इन्द्रिय-अर्थ का ऐसा सन्निकर्म्म होने पर भी आत्मा—साध्य और उसके साधक हेतु के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष न होने से, अनुमानप्रमाण के आधार पर आत्मा की सिद्धि युक्त प्रतीत नहीं होती ।

सामान्यतोऽनुष्ठानान्वाविशेषः ॥७॥

सामान्यतोऽस्त हेतु से भी ज्ञानादि का वचनिराजित उत्तरमात्र सिद्ध होता है । इसके आत्मा की विशेष रूप से सिद्ध नहीं होती ।

तस्मादात्मनिकः ॥८॥

अतः ‘आत्मा की सिद्धि केवल आत्मन = वेदवचन’ से माननी चाहिए ।

अहमिति अस्तस्य स्मृतिरेकात्मनिकम् ॥९॥

‘अहम्’ वाच्य का वृषिआदि मृतों के विषय में प्रयोग न होने से तत्पदवाच्य आत्मा का अनुमान भी होता है । केवल आत्मन से ही आत्मा की सिद्धि नहीं होती । (ये और मेरा का व्यवहार वृषिआदि इन्हीं में नहीं पाया जाता, अतः वृषिआदि प्राण इन्हीं में से किसी की आत्मा मानना आस्थावृत्त नही होता ।)

१. पञ्चुर्वेद [४०।१] में कहा है—आत्मैवावृद्धिवाचकः । प्राणजाली के लिए सारे प्राणी अपनी आत्मा के तुल्य ही हो जाते हैं ।

बृहदारण्यकोपनिषद् [४।४।३] में कहा है—आत्मा या अरे इत्यस्यः श्रोतव्यो सत्त्वो निविध्यसितत्वः । आत्मा जानने, धन्य करने, मनन करने और ध्यान करने योग्य है ।

द्वितीय दर्श—‘ग्रहम्’—‘मैं हूँ’—ऐसी प्रतीति में शब्दप्रमाण के न होने से आत्मा की केवल आत्मप्रतीति मानना उचित नहीं है। (नोकनस्यद्वार में बिना शब्द-प्रमाण का नाम सुने भी शक्ति व्यक्ति ‘ग्रहम्’ के रूप में आत्मा का अनुमान करता है।)

यदि दृष्टमन्वसां महं देवदत्तोऽहं मन्दत इति ॥१०॥

यदि ‘मैं देवदत्त हूँ, मैं मन्दत हूँ’ इत्यादि प्रतीतियों से आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है तब उनकी शक्ति के लिए अनुमान-प्रमाण की क्या आवश्यकता है !

दृष्ट आत्मनि स्थित्वा एक एव दृष्टव्यात् प्रत्यक्षत्वं प्रत्यक्षः ॥११॥

प्रत्यक्षसिद्ध होने पर भी आत्मा का वह निरवधारक ज्ञान होने के लिए अनुमान-परिहृत विद्वान् अनुमान के भी आत्मा की शक्ति करते हैं।

देवदत्तो मन्दत इति मन्दतो मन्वस्योऽहं मन्दत इति प्रत्यक्षः ॥१२॥

‘देवदत्त जाता है, मन्दत जाता है’ यादि प्रयोग आत्मतत्त्वज्ञ शरीर के लिए औपचारिक—वीथ रूप से होता है।

तन्निश्चयस्तु प्रत्यक्षः ॥१३॥

(जब आत्मा शरीर शरीर दोनों के लिए ‘ग्रहम्’ पद का प्रयोग होता है तब) तत्पक्ष होता है कि ‘ग्रहम्’ पद का प्रयोग आत्मा के विषय में औपचारिक है या शरीर के विषय में।

ग्रहमिति प्रत्यक्षमिति भवति प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षः ॥१४॥

‘ग्रहम्’—‘मैं हूँ’—यह प्रतीति क्या प्रमाणक हो शोभी है, प्रमाणविषयक नहीं, अतः ‘ग्रहम्’ विषयक प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न—आत्मा के विषय में ही होता है।

देवदत्तो मन्वस्योऽहं मन्दतो मन्वस्योऽहं मन्दत इति प्रत्यक्षः ॥१५॥

‘देवदत्त जाता है’ यादि प्रयोग को औपचारिक मानना ठीक नहीं, क्योंकि अधि-ज्ञान से ग्रहणकार का प्रत्यक्ष शरीरविषयक ही है, आत्मविषयक नहीं।

तन्निश्चयस्तु प्रत्यक्षः ॥१६॥

उपार्थक उपचार में ‘ग्रहम्’ विषयक प्रत्यक्ष की शरीरविषयक मानना भी लो-पक्षित ही है।

तदु शरीरविशेषात् मन्दतमिदं मिश्रमिति विषयः ॥१७॥

मन्दत शरीर विष्णुमित्र के परस्पर चिन्त शरीर के प्रत्यक्ष होने पर भी उनके ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः ग्रहण भाव का शरीर में उपचार से ग्रहण होता है।

ग्रहमिति मुख्यमोक्षमार्गं शब्दवत् व्यतिरेकव्यतिरेकात्

मिश्रमिति द्वैतमिति ॥१८॥

मुख्य तथा प्रमाणसिद्ध ग्रहणरूप ज्ञान के शरीर में न होने के कारण ‘ग्रहम्’ प्रमाण आत्मा की केवल आत्मप्रमाण या अनुमानप्रमाण से ही सिद्ध हो सकना चाहिए। अनिष्ट आत्मा की प्रत्यक्षसिद्ध भी समझना चाहिए।

मुख्यमिति मुख्यमिति मुख्यमिति मुख्यमिति ॥१९॥

मुख्य-मुख्य शरीर ज्ञान की निष्पत्ति—उत्पत्ति समान रूप से जारी जाने से आत्मा का ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

अवस्थाती भावा ॥२०॥

अवस्था से—प्रतिधरीर विन्न-विन्न स्थिति के कारण, प्रत्येक देह में पाया।
भक्षण-भक्षण है ।

आवृत्तमवस्था ॥२१॥

वेद-शास्त्रों के प्रमाण से भी ज्ञान का सनातन सिद्ध होता है ।

॥ इति तृतीयाध्याये द्वितीयपाद्विक्रमः ॥

१. जीवा ज्योतिरजीमहि ।—अ० ७।३।२।२६

भृष्यन्तु विन्दे अमृतस्य पुत्राः ।—मनु० १।१।५

एको ब्रह्मन् श्री विदधाति कामान् ।—कठोप० २।२।१३

इन सब स्थलों में जीवों, आत्माओं के अनेक होने का वर्णन है ।

चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम्

सर्वकारणवन्निर्णयम् ॥१॥

जो पदार्थ भावकः—सत्यस्वरूप है, जिसका अन्व कोई कारण भी नहीं, वह पदार्थ निरव नदृश्याता है (ऐसी मूल प्रकृति ही इस जगत् का मूल उत्पादान कारण है) ।

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥२॥

उस प्रकृति की सिद्धि के लिए कार्यक जगत्—वृषिभी, सूर्य, चन्द्र आदि ही कारण हैं ।

कारणभावाद् कार्यभावः ॥३॥

कारण के होने से कार्य होता है । (कारण के अभाव से कार्य भी नहीं हो सकता जैसे बिना मिट्टी के घड़ा नहीं बन सकता ।)

अनिरव इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥४॥

'नह अनिरव है'—इस प्रकार निरव का निषेधभाव ही विशेषरूप से निरव पदार्थ की सिद्धि करता है ।

अभिज्ञा ॥५॥

मूल उत्पादानकारण की अनिरव सिद्धि करनेवाले सारे हेतु हेतुभास हैं, भ्रम हैं, अज्ञान हैं ।

महत्त्वमैकव्यवस्थात् क्वाब्धोपलब्धिः ॥६॥

महत्परिमाणवति—एक, अनेक इत्यादि—संयोग के निमित्त और क्वाब्धि पदार्थों का ही आशुप प्रत्यक्ष होता है । (परमानु में इन तीनों का अभाव है परन्तु परमाणु का प्रत्यक्ष न होने मात्र से परमानु की अस्तित्व नहीं हो सकती ।)

सत्यपि इवमश्वे महत्त्वे क्वासंस्कारावावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥७॥

इवमश्व और महत्परिमाण से होने पर भी क्वासंस्कार का अभाव होने से वायु आशुप प्रत्यक्ष नहीं होता ।

अनेकव्यवस्थानवायाद् क्वाविशेषात् क्वापलब्धिः ॥८॥

अथमयी में अनेक वस्तुओं के समवाय से और रूप में वैशिष्ट्य के अभिव्यक्त होने का प्रत्यक्ष होता है ।

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं क्वाकृतात् ॥९॥

उपवृक्ष रूप-प्रत्यक्ष व्यवस्था से ही रस, गन्ध तथा स्पर्श के प्रत्यक्ष प्रकार की अवस्था समझ लेनी चाहिए ।

तस्याभावाव्यभिचारः ॥१०॥

परमाणु में रूपविशेष का अभाव होने से (यदि उनका आशुप प्रत्यक्ष नहीं होता तो भी) जगत् नियम में कोई व्यभिचार—दोष नहीं है ।

संख्याः परिमाणानि मुख्यत्वं संयोगविभागी परस्परपरस्वे

कर्म वा कश्चिद्व्यसमवायान्तराद्युक्तानि ॥११॥

संख्या, परिमाण, मुख्यत्व, संयोग-विभाग, परस्व-प्रपरस्व, कर्म और 'कार' से स्नेह, द्रवता, वेग—इन सब का कथनाने द्रव्य में समवाय होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है ।

कश्चिद्व्यसमवायुक्तानि ॥१२॥

कथराहित द्रव्यों में वर्तमान संख्यादि ऊर्ध्वोक्त गुणों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता ।

एतेन गुणस्य भावे वा सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याकल्प्यते ॥१३॥

इसी प्रकार गुणन तथा सत्त्वानादि के विषय में मनु इन्द्रियों द्वारा होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान व्याकल्पित समझना चाहिये ।

॥ इति चाक्षुषादिव्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ चतुर्थाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

तत्पुनः भूविष्यादि कार्यद्रव्यं विविधं शरीरेन्द्रियविवक्षितम् ॥१॥

वे भूविष्यादि कार्यद्रव्य भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार के होते हैं ।

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगव्यसमवायस्यैव पञ्चात्मकं न विद्यते ॥२॥

अप्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष वस्तुओं के संयोग के अप्रत्यक्ष होने से शरीर को पञ्चमीतिक नहीं माना जा सकता ।

गुणान्तराभावाद्गुणार्थाप्य न स्वात्मकम् ॥३॥

कारणगुणपूर्वक दूसरे गुणों (जस तथा तेष के प्रवाह एवं उल्लास गुण आदि) के प्रकट न हो सकने से शरीर संबोधितक—तीन पदार्थों से बना भी नहीं है ।

अनुसंयोगपरत्ववृत्तिविद्वः ॥४॥

अणु के संयोग का निवेध नहीं किया गया है । (पूर्वगुणों में शरीर के पञ्चमीतिक या संबोधितक होने का निवेध किया है परन्तु परमाणुओं के संयोग का निवेध नहीं किया है ।)

तत्र शरीरं द्विविधं योनितमयोनिजं च ॥५॥

शरीर दो प्रकार का है—योनित और अयोनिज ।

अनित्यविद्येऽनुपूर्वकत्वात् ॥६॥

सर्गारम्भ में दिशा और देश पूर्वविद्यत न होने के कारण (वे शरीर अयोनिज कहलाते हैं) अथवा अयोनिज देहरचना के परमाणुपूर्वक होने से वे शरीर अयोनिज कहलाते हैं ।

अथमैधियेवाप्य ॥७५॥

(अथोक्तिः शरीर के कारण परमाणुओं में विद्या हो) अर्ध और अथमैधियेव = पुन्य और वाय के कारण ही होती है ।

समाख्याभाषाया ॥७६॥

अविद्ध नाम (अग्नि, वायु आदि) पाये जाने से भी अथोनिज शरीर की सिद्धि होती है ।

संज्ञाया आवित्वात् ॥७७॥

संज्ञा = नाम के सर्वप्रथम होने से भी अथोनिज शरीर की सिद्धि होती है ।

सम्यथोनिजाः ॥१०॥

उपबृज्य प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि अथोनिज शरीर भी होते हैं ।

केवलसङ्ख्येव ॥११॥

वेद के प्रमाणों से भी अथोनिज शरीर सिद्ध हैं ।

॥ इति सङ्ख्योपनिषादे द्वितीयोऽध्यायः ॥

१. अथर्ववेद (३।२८।१) में कहा है—

एकैकया सृष्ट्या संवत्स्रं यत्र वा असृजन्त सृजन्तौ विराजयन्तः ।

यत्र विनाशते समित्यवर्तुः सा पशुन् शिवाति रिच्छती स्याति ॥

यह सृष्टि एक परमात्मा और एक प्रकृति से उत्पन्न हुई । परमात्मा की ईश्वर-ज्ञानव्यं के प्रविष्टी से वर्म धारण किया । इस अर्थवृत्ती सृष्टि में ताना प्रकार के जंगम, जासी, समुप्य आदि और जीव बर्माधारक सेव प्रकट हुए । यह सृष्टि अर्तुः—कृत्तु, वीर्य-हीन अर्थात् अर्थवृत्ती है, न कि अर्थवृत्ती । जिस उत्पन्न हुई सृष्टि में समस्तजन्म = सभी-पुरुष अर्थात्सम सृष्टि विविध प्रकार से उत्पन्न होती है यह अर्थवृत्ती सृष्टि काम-धेया के लिए ज्ञान में हिवा करती हुई अतएव कृत्तु हुई-हुई जीवों को नष्ट करती है ।

अथ पञ्चमाध्याये प्रथममाह्निकम्

आत्मसंयोगप्रयत्नान्वां हस्ते कर्म ॥१॥

प्रयत्नवान् आत्मा का ह्रास के साथ संयोग होने से कर्म = उत्क्षेपण आदि की उत्पत्ति होती है ।

तथा हस्तसंयोगाच्च भूतले कर्म ॥२॥

उसी प्रकार ह्रास का भूतल के साथ संयोग होने से भूतल में कर्म की उत्पत्ति होती है ।

अभिधातले भूतलादी कर्मणि भवतिरेकाकारणं हस्तसंयोगः ॥३॥

चोट देने से उत्पन्न हुए भूतल आदि में जो कर्म उत्पन्न होता है उसमें ह्रास का भूतल के साथ संयोग कारण नहीं है क्योंकि ह्रास के साथ प्रयत्नयुक्त आत्मा का संयोग नहीं रहता ।

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥४॥

इसी प्रकार आत्मा का ह्रास के साथ संयोग ह्रास के उत्क्षेपक कर्म में भी कारण नहीं होता ।

अभिधातानुसृतसंयोगाद्भस्ते कर्म ॥५॥

(फिर भूतल उत्क्षेप में कारण क्या है ?) चोट मारने से तथा भूतल के साथ ह्रास का संयोग होने से ह्रास में उत्क्षेपण कर्म की उत्पत्ति होती है ।

आत्मकर्म हस्तसंयोगान्न ॥६॥

ह्रास के संयोग और वेग से शरीर में कर्म उत्पन्न होता है ।

संयोगाभावे युक्त्यात्पदानम् ॥७॥

ह्रास का संयोग न रहने पर हस्त के भारी होने से वह हस्त नीचे गिरता है ।

मीदनविशेषाभावात्मीदं न त्रिवर्गमनम् ॥८॥

मीदन . - विशेषविशेष के न होने से गुद हस्त ऊपर और हस्त ऊपर की न जा-
कर पृथिवी की ओर आता है ।

प्रयत्नविशेषात्मीदनविशेषः ॥९॥

प्रयत्नविशेष से मीदनविशेष उत्पन्न होता है ।

मीदनविशेषानुवसनविशेषः ॥१०॥

मीदनविशेष से उदसन = उत्थरणमन, उत्थान उत्पन्न होता है ।

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥११॥

ह्रास की क्रिया से दारक = बालक की प्रयत्नहीन ह्रास-पैर आदि संभालन-क्रिया की व्याख्या समझ लेनी चाहिये ।

तथा दग्धस्य जित्कोटने ॥१२॥

उसी प्रकार जली हुई वस्तु के टूटने-फूटने अथवा फकोला पड़ने की क्रिया भी आत्मप्रेरणा के बिना ही होती है।

अनाभावे प्रमुखास्य चक्षुषम् ॥१३॥

होवे हुए अथवा अचेत व्यक्ति के चक्षु न करने पर भी उठकर चल देने आदि की क्रिया होती है।

तुल्ये कर्म बाधुसंयोगात् ॥१४॥

तिनके में बाधु के संयोग से कर्म उत्पन्न होता है।

अग्निपचनं शुष्कमित्सर्वमसिद्धयुक्तकारणकम् ॥१५॥

अग्नि का पचना और अनास्कास्य = चूल्हक की ओर हुई आदि का सफटना चूल्हक और अग्नि में अलस्य अक्षय्य-शक्ति के कारण होता है।

इषाचतुस्रस्य संयोगमित्येवः कर्माकारणे हेतुः ॥१६॥

चतुस्र की ओरी से भिन्न हुए बाध में आरम्भ से अन्त तक क्रमशः होनेवाले कर्मों के भिन्न होने में संयोगमित्येव कारण बन जाते हैं।

नोदनादाद्यमित्योः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं ततोत्तरमुत्तरं च ॥१७॥

बाध का पहला कर्म तो नोदन = पुष्पप्रयत्न से उत्पन्न होता है और उस कर्म से उत्पन्न एक ही वेग नामक संस्कार से उत्तरोत्तर कर्म में उत्तरोत्तर कर्म की उत्पत्ति होती है।

संस्काराभावे मुक्त्यात् पतनम् ॥१८॥

किन्तु जब संस्कार नष्ट हो जाता है तब मुक्त्य = भारीपन के कारण बाध का पतन हो जाता है।

॥ इति पञ्चमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

नोदनाभिधातात् संयुक्तसंयोगाच्च पुषिष्ठा कर्म ॥१॥

नोदन. प्रेरणाकर अग्निपात से और संयुक्त पदार्थों के साथ संयोग से पुषिष्ठा में कर्म = पतन और चूल्हक आदि की उत्पत्ति होती है।

तद्विशेषेणादुष्कारितम् ॥२॥

पुषिष्ठा का विशेषण विशेष रूप से अलस्य अक्षय्य-शक्ति के कारण है।

अनां संयोगाभावे मुक्त्यं पतनम् ॥३॥

संयोग के अभाव से भारी होने के कारण जनों का पतन = वर्षण होता है।

इत्यत्र सत्यम् ॥४॥

इत्यत्र = गोला और पतना होने के कारण जल नीचे की ओर बहते हैं।

नादयो वायुसंयोगादारोहकम् ॥११॥

प्रकार सूर्य-किरणों और वायु के संयोग से जब वायुकण में ऊपर बढ़ता है।

नोदनापोदनात् संयुक्तसंयोगान्न ॥१२॥

इसका वायु के घेरना और दबान तथा संयुक्तसंयोग — इसके से भी पानी ऊपर को बढ़ता है।

नृणाभिसर्गव्यमित्यनुष्टकारितम् ॥१३॥

वृक्षमूल में दाते हुए जल का पूरे वृक्ष में उद्वहन घट्ट = ईश्वरीय व्यवस्था के कारण होता है।

जलों संघातो विनयनं च लेखः संयोगात् ॥१४॥

जलों का जल जाना और गलकर तरल हो जाना बिना किसी बलवत्तर से के संयोग से होता है।

तत्र विरुद्धसंयुक्तिज्ञम् ॥१५॥

मेघमण्डल में डेढ़रे हुए जलों के जमाव में तेजसंयोग होने का प्रमाण उनमें होने-वाली कड़क और चमक है।

वैदिकं च ॥१६॥

वेदों के प्रमाण से भी इसी वैदिक सिद्धान्त की समष्टि होती है।

जलों संयोगात् विभागादप्य वलमपिनोः ॥१७॥

जलों के संयोग और विभाग से बिजली की उत्पत्ति और कड़क होती है।

पृथिवीकर्मणा लेखः कर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥१८॥

पृथिवी-कर्म के हाथ-पाय व्याख्यातन से लेख तथा वायु के कर्मों की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

धामेकध्वजजलं आयोरित्येकं पञ्चमसूत्रां कर्मवृष्टकारितम् ॥१९॥

धमि का ऊपर की ओर की जनना, वायु का तिरछा बहना, परमाणु तथा मन के प्रथम कर्म का उत्पत्ति घट्ट के कारण (परमाणु की घेरना से) होता है।

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥२०॥

मनःकर्म की व्याख्या हस्तकर्म की व्याख्या के समान समझनी चाहिए। (जैसे जीवात्मा की प्रेरणा से हाथ काम करता है, वैसे ही मन भी।)

आत्मैन्द्रियमनोऽयंसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥२१॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा में सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है।

तद्वत्तारम्य आत्मस्थे मनसि शरीरस्थ दुःखमायः स योगः ॥२२॥

मन के आत्मा में स्थित हो जाने पर, इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों का सहन न होने से शारीरिक सुख-दुःख का अभाव हो जाता है — वह योग — श्वापिनाम कहलाता है।

अपसर्पणमुपसर्पणमरिद्रापीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगादस्यवृत्तकारितानि ॥१७॥

पूर्वशरीर से आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि का बाहर निगल जाना, देहान्तर में प्रवेश कर जाना, ज्ञान-ज्ञान के सम्बन्ध में हीनेशानि किपाकल्प और इतिवृत्त, ज्ञान आदि के सम्बन्ध से हीनेशानि सर्व—ये सब अस्तित्व प्रारम्भ-अगन्तुकार होते हैं ।

तदभावे संयोगाभावोऽप्राप्तुर्भाष्यमोजः ॥१८॥

शरीरकारक मनःकर्म के अभाव होने पर शरीर में आत्मा के संयोग का अभाव और शरीरान्तर का प्राप्तिर्भाव न होना ही मोक्ष कदाता है ।

द्रव्यगुणकर्मनिश्चयतिर्वधम्यादिभावस्ततः ॥१९॥

द्रव्य, गुण और कर्म की सिद्धि के बंधन से अन्धकार वस्तुतः तेजोऽभाव ही है । (अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है ।)

तेजसो द्रव्यान्तरैवाधरणात्मनः ॥२०॥

तथा, तेज के अन्व द्रव्य द्वारा एक जाने से भी प्रकाश का अभाव अन्धकार होता है, अतः यह तेजोऽभाव ही है ।

विषयात्मनोऽप्यपि च क्रियातद्वैधर्म्याभिव्यक्तिरिति ॥२१॥

विद्या, काल और साक्षात्—क्रियागुण्य पदार्थ हैं क्योंकि ये क्रियावाले पदार्थों से विच्छिन्न नहीं हैं ।

एतेन कर्माणि गुणात्मन व्याख्याताः ॥२२॥

इसी उपर्युक्त कथन से कर्म और गुणों की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए (जैसे विद्या आदि समूह होने से निष्क्रिय हैं, वैसे ही गुण और कर्म भी निष्क्रिय हैं) ।

निष्क्रियानां समवायः कर्मेभ्यो निमित्तः ॥२३॥

क्रियारहित गुण तथा कर्मपदार्थों का द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध ही होता है । यह समवाय विद्याओं ने निमित्त रहित है, दृश्यही सीमा में क्रियाओं का प्रवेश नहीं है ।

कारणं स्वसमवायिभ्यो गुणैः ॥२४॥

गुण अपने कार्यों के प्रति स्वसमवायिकारण होते हैं ।

गुणैर्द्रव्याख्याता ॥२५॥

गुणपदार्थों के व्याख्यान से विद्या की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए ।

कारणेन कालः ॥२६॥

निमित्त कारण होने से काल का व्याख्यान भी हो चुका । (काल निमित्त कारण है अतः उसे सक्रिय नहीं कह सकते ।)

॥ इति वरुचनसंख्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ षष्ठाध्याये प्रथममाह्निकम्

बुद्धिपूर्वो वाक्यकृतियवे ॥१॥

वेदों के वाक्यों की रचना बुद्धिपूर्वक है (ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण) ।

ब्राह्मणे संतामर्भे सिद्धिलिङ्गम् ॥२॥

ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों में ब्रह्मादि का वाक्यकरण भी बुद्धिपूर्वक वेदरचना का साधक सिद्ध है ।

बुद्धिपूर्वो वसतिः ॥३॥

वेद में दान का निर्देश भी बुद्धिपूर्वक है (अतः वेद ईश्वरीय ज्ञान है) ।

तथा प्रतिग्रहः ॥४॥

उसी प्रकार दान का स्वीकार भी वेद की ज्ञानपूर्वक रचना का प्रमाण है ।

धामभान्तरगुणानामात्मान्तरेष्वात्मनोऽन्तः ॥५॥

एक आत्मा के गुण धाम आत्मा में कारण न होने से एक का फल दूसरे की नहीं मिलता (किन्तु सभी आत्मा में पुष्पादि का उत्पादन करते हैं) ।

तद् बुष्टभीक्ष्णो न विच्छेत् ॥६॥

वह सम्भुदकण फल दूषित व्यक्तियों द्वारा ऐश्वर्य भीगते रहने पर नहीं रहता है ।

बुष्टं हितायाम् ॥७॥

निदिष्ट साधार में तीन, दूसरों को कष्ट देनेवाला पुण्य ही बुष्ट कहलाता है ।

तस्य समभिधाहारतो दोषः ॥८॥

उस बुष्ट व्यक्ति के समान व्यवहार करने से समाज में दोष उत्पन्न हो जाते हैं ।

तत् बुष्टे न विच्छेत् ॥९॥

वह सामाजिक दोषकण फल, श्रेष्ठ पुरुष के समान व्यवहार करने पर नहीं होता ।

पुनर्निश्चिच्छे प्रवृत्तिः ॥१०॥

निरन्तर श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति प्रवृत्ति — मुक्तत्व रखना चाहिए ।

क्षमे होने का प्रवृत्तिः ॥११॥

अपने से विशिष्ट पुरुषों के धर्मात् में अपने समान और उसके भी प्रलाभ होने पर अपने से हीन सदुष्टपुरुष को धार्मिक सहयोग सादि देना चाहिए ।

एतेन हीनतमनिश्चिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वात्मनं व्याख्यातम् ॥१२॥

जैसे दान के विषय में विशिष्ट, तब तथा हीन व्यक्ति का नियम है वैसे ही दान लेने में भी धन्य, मध्यम और उत्तम धार्मिक पुरुषों का नियम समझना चाहिए । (इसी प्रकार के प्रतिग्रह से पुण्य होता है ।)

तथा विषयानां त्यागः ॥१३॥

उसी प्रकार निर्धारित व्यवस्थाओं से विपरीत बात का परिश्रम करना उचित है।

होने पर त्यागः ॥१४॥

यदि दाता धार्मिक अथवा बौद्धिक दृष्टि से हीन हो तो उसके दान का परिश्रम कर देना चाहिए।

समे आत्मत्यागः परत्यागी वा ॥१५॥

दाता और आदाता के समान होने पर चाहे आदाता — लेनेवाला प्राप्त होनेवाले सहयोग का परिश्रम कर दे अथवा दाता स्वयं सहयोग की भावना को त्याग दे।

विशिष्टे आत्मत्यागे इति ॥१६॥

यदि दाता अपने से उन्नत धार्मिक हो तो आदाता उसके द्वारा दिये जानेवाले सहयोग को स्वयं त्याग दे। यह प्रसंग समाप्त हुआ।

॥ इति चर्यचरणे प्रथममाह्निकम् ॥

अथ षष्ठ्याध्याये द्वितीयमाह्निकम्

पृष्ठापुष्पप्रसोक्तानां पृष्ठानामे प्रसोक्तमप्युपपाद ॥१॥

घट और घण्ट (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष) फल देनेवाले दो प्रकार के कर्मों में प्रत्यक्ष फल के प्रभाव में परतीक मुख्य रूप घण्ट फल की कल्पना करनी चाहिए।

अभिधेयमीयमासहस्रचर्मगुरुकुलमासमानप्रत्यक्षफलानप्रोक्षण-

विह् नक्षत्रमन्त्रकालनियमादिवापृष्ठा ॥२॥

ज्ञान, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वाचप्रवच, यज्ञ, दान, प्रोक्षण — यह के मुक्ता आदि की दल द्वारा बुद्धि, दिग् = पूर्वादि दिशाओं में नियत रूप से बजमान आदि का बैठना, नक्षत्र = पुण्य आदि विहित नक्षत्रों में संस्कार आदि कर्म करना, मन्त्र = मन्त्रोच्चारणपूर्वक वज्रादि करना, काल = उत्तरायण आदि समयविशेष में कर्म करना, निधन = उपासक व साधनान्वयस्था का सम्पाद परिपालन — और भी ऐसे ही कर्म घण्ट फल के लिए हैं।

आनुरागमपुष्पा अनुपपाद ॥३॥

ब्रह्मचर्य आदि चारों आत्ममार्गों के अनुष्ठान से ही घण्ट फल की उत्पत्ति होती है तथा उपवास और अनुपवास से भी घण्ट = वर्मागम की उत्पत्ति होती है।

आनन्दोप उपपादोमीमीपुष्पा ॥४॥

कर्मचरण की भावना में राग आदि दोष ही उपवास है और उस भावना में अज्ञान, अज्ञानिबुद्धि आदि अनुपवास है।

अविष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमनुक्षितं च तच्छुचि ॥५॥

जो मनभावने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—अपना वाड़ा पसीना बहाकर कमाये द्ये हों और समाप्त वा वासन द्वारा अनुक्षित हों यही रस-रूप आदि शुचि हैं ।

अनुक्षितं शुचिप्रतिषेधः ॥६॥

जो शुचि का उलटा है, वही अनुक्षित है ।

अर्वाक्षरं च ॥७॥

विनाश विधे दृष्टं पदार्थं ते गिनं दूसरा पदार्थ भी प्रसूत है ।

अद्वयस्य शुचिभोजनाद्यन्मुद्यतो न पिच्छते निवन्माभवादिच्छते

आर्वाक्षररसाद्यमेव ॥८॥

अद्वय का कभाव हो जाने से, अहिंसा आदि धर्मों का वासन न करनेवाले व्यक्ति का शुचि उपभोगों (शुद्ध भोजन करने) से क्लेशाद्य नहीं होता अथवा जो व्यक्ति धर्मों का वासन नहीं करता उसके दिग् भी शुचि साधनों से प्राप्त उपभोग क्लेशाद्य रूप होते हैं ।

कसति चाभावात् ॥९॥

उपभोग के साधनों का शुचि होना ही अहिंसा आदि धर्मों का वासन करना—इन दोनों में से किसी एक के न रहने पर भी अद्वय अन्मुद्यत नहीं होता ।

मुख्यद्वय ॥१०॥

मृत से रागः—विषयों में प्राप्तित उत्पन्न होती है ।

तन्मयत्वाच्च ॥११॥

विषयों में तन्मय हो जाने से भी राग की उत्पत्ति होती है ।

अद्वयत्वाच्च ॥१२॥

अद्वय = पूर्वज-प्राप्ति संस्कार से भी राग की उत्पत्ति होती है ।

आतिविशेषाच्च ॥१३॥

आतिविशेष से भी राग की उत्पत्ति होती है ।

इच्छाद्वैतपूर्विकस्य धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ॥१४॥

मनस्य की इच्छा, राग ही द्वैतपूर्वक धर्माधर्म में प्रवृत्ति होती है ।

तत्संयोगो विभावः ॥१५॥

उस धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति से जन्म और मरण होता है ।

आत्मकमंशु भोजी व्याख्यातः ॥१६॥

आत्मज्ञान प्राप्त करानेवाले कर्मों से मुक्त होना मृत में कहा गया है ।

॥ इति चण्डाल्यायस्य द्वितीयोपाधिनाम् ॥

अथ सप्तमाध्याये प्रथममाह्निकम्

उत्पत्ता गुणाः ॥१॥

गुणों का वर्णन ही यहाँ ।

पृथिव्यादिकारणरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानिर्गन्तादित्यादयः ॥२॥

पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के गन्ध, रस, स्पर्श तथा स्पर्शगुण पृथिव्यादि के अनित्य होने से अनित्य ही होते हैं ।

एतेन निर्वेषु निरुपायद्रुक्ताम् ॥३॥

इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि निम्न द्रव्यों के उत्पन्न गुण निश्च होते हैं ।

जम्बु तैर्जात आसी च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥४॥

द्रव्यों के नित्य होने से जल, अग्नि और वायु के तत्त्वद्रव्यों में रहनेवाले गुण भी नित्य ही हैं ।

अतिशेखनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ॥५॥

द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य द्रव्यों में गुण भी अनित्य होते हैं ।

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां वाक्याः ॥६॥

गान्धक्य पृथिवी में अन्य द्रव्यों के साथ पकने से उत्पन्न सुख रस, स्पर्श और स्पर्श-गुण अपने-अपने कारणों के गुणों में आने शुरू होते हैं ।

एकत्वमरत्वात् ॥७॥

(द्रव्यम-रसक विरोधी गुणों के) एक द्रव्य अधिकारवाले होने से भी उत्पन्न कवन की पुष्टि और मिटि होती है ।

अग्नौर्गृह्यतथोपलब्धगुणसम्भी नित्ये ध्यायन्ते ॥८॥

अग्नि और महत् की उपलब्धि और अगुणलब्धि नित्य कही गई है ।

कारणमहुरावृण ॥९॥

कारणों के अनेक होने से महत् परिमाण की उत्पत्ति होती है ।

अतो विपरीतमणु ॥१०॥

महत्परिमाण से विपरीत को परिमाण है, वह अणुपरिमाण कहलाता है ।

अनु महदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च ॥११॥

'यह अणु है' और 'यह महत् है', एक वस्तु में परिमाणविषयक इस प्रकार का ही व्यवहार होता है, उस वश्या में विशेष अणुत्व के होने से अणु और विशेष के न होने से महत् व्यवहार होता है ।

एककालत्वात् ॥१२॥

एक काल में होने से अणु और महत् का व्यवहार होता है । (जिस काल में आँखों की रोश से छोटा कहते हैं, उसी काल में आँखों को घेर से बड़ा कहते हैं ।)

वृष्टान्ताख्य ॥१३॥

इष्टान्त = उदाहरण से भी पूर्णतः कथन की सिद्धि होती है ।

अणुत्वमहत्त्वबीरपुरुषमहत्त्वमात्रः कर्मगुणव्याख्याताः ॥१४॥

अणु बीर महत् परिमाणों में कर्म अणु बीर महत् परिमाण का अभाव है यह तथ्य कर्म बीर गुणों द्वारा कह दिया गया है ।

कर्मणिः कर्माणि गुणश्च गुणा व्याख्याताः ॥१५॥

कर्मों से कर्म बीर गुणों से गुणों का व्याख्यान कर दिया गया ।

अणुत्वमहत्त्वमात्रा कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥१६॥

अणुत्व बीर महत्त्व के व्याख्यान से कर्म बीर गुण की भी व्याख्या हो गई ।

इत्थेन दीर्घत्वह्रस्वमे व्याख्याते ॥१७॥

इसीसे दीर्घ बीर ह्रस्व परिमाण भी कह दिये गये ।

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥

अनित्य इत्य में उपर्युक्त चारों परिमाण—अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व अनित्य होते हैं ।

नित्ये नित्यम् ॥१९॥

नित्य इत्थों में परिमाण गुण भी नित्य होता है ।

नित्यं परिमण्यन्तम् ॥२०॥

गोल अथवा वर्तुलाकार परमाणु का परिमाण भी नित्य होता है ।

अविद्या अ विद्यानिष्कम् ॥२१॥

अविद्या = अज्ञान, विद्या = ज्ञान का अनुमापक मक्षण है ।

विमर्शान् महानाकाशस्ताया चार्तना ॥२२॥

व्यापक होने से आकाश बीर परमात्मा महत् परिमाणयुक्त हैं ।

तत्त्वमात्राणु अनः ॥२३॥

विद्रुत्व = सर्वव्यापकत्व के अभाव से मन अथवा मनबाला बीरमात्रा अणु-परिमाणमात्रा है ।

गुणैर्विन् व्याख्याता ॥२४॥

गुणों के द्वारा विन् = विद्या इत्य का भी व्याख्यान हो गया समझना चाहिए ।

कारणेन कालः ॥२५॥

कारण के समान ही काल का भी व्याख्यान समझना चाहिए ।

॥ इति सप्तमाध्याये प्रथममाल्लिकम् ॥

अथ सप्तमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कपरसामान्यस्वर्गोऽप्यवितरेकावर्गान्तरमेकात्मम् ॥१॥

कप, रस, मध्म और स्वर्ग गुणों से भिन्न होने के कारण एक-दो आदि संख्या क्यादि गुणों से भिन्न वस्तु है।

तथा एकदशम् ॥२॥

वैसे ही एकदश गुण भी क्यादि से भिन्न समझना चाहिए।

एकदशकपुण्यस्वर्गोऽप्यवितरेकावर्गान्तरमेकात्मम् ॥३॥

एकदश और एकदश गुण में दूसरे एकदश और दूसरे एकदश का अभाव है, वह स्वयं कपुण्य और महत्त्व के व्याख्यान से व्याख्यान समझना चाहिए।

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वकर्म न विद्यते ॥४॥

गुण और कर्म के संख्यारहित होने से सब पदार्थों में एकदश संख्या नहीं रहती।

अनन्तं सत् ॥५॥

“एकं कर्म, एकं कर्म” — ऐसा लोकमान असमूलक है।

एकदशकपुण्यस्वर्गोऽप्यवितरेकावर्गान्तरमेकात्मम् ॥६॥

एकदश का अभाव होने से तो अन्तः — सीमा प्रयोग भी नहीं रहता।

कार्यकारणयोरेकत्वेकपुण्यस्वर्गान्तरमेकात्मम् ॥७॥

समान जातीय कार्य और कारण में एकदश और एकपुण्यत्व के अभाव से एकदश और एकपुण्यत्व नहीं है। (भाव यह है कि कार्य और कारण एक नहीं हो सकते।)

एकदशकपुण्यस्वर्गोऽप्यवितरेकावर्गान्तरमेकात्मम् ॥८॥

यह एकदश और एकपुण्यत्व की अनित्यता का व्याख्यान समझना चाहिए।

अनन्तरकर्मज उभयकर्मजः संयोगश्च संयोगः ॥९॥

दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न, दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न और संयोग से उत्पन्न होनेवाला संयोग गुण कहाता है।

एतेन विभागी व्याख्यातः ॥१०॥

इसीने विभाग गुण की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

संयोगविभागयोः संयोगविभागान्तरमेकात्मम् ॥११॥

संयोग और विभाग में संयोग और विभाग का अभाव है — यह कपुण्य और महत्त्व के द्वारा व्याख्या समझना चाहिए।

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः कपुण्यमहत्त्वान्तरमेकात्मम् ॥१२॥

कर्मों से कर्म, गुणों से गुण कपुण्य और महत्त्व से व्याख्या समझ लेने चाहिए।

अन्तरात् समानं हुमा।

एकदशकपुण्यस्वर्गोऽप्यवितरेकावर्गान्तरमेकात्मम् ॥१३॥

गुणविधि के अभाव से (गुण हुए न होने से) कार्य और कारण में परस्पर संयोग और विभाग नहीं होते।

गुणत्वात् ॥१४॥

शब्द के गुण होने से द्रव्य और गुण में संयोग और विभाग नहीं मान सकते ।

गुणोऽपि विभाज्यते ॥१५॥

रूप, रस आदि गुण भी शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है ।

निरूप्यमात्रात् ॥१६॥

क्रियारहित होने से शब्द का अर्थ के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं है क्योंकि संयोग क्रिया से उत्पन्न होता है ।

अस्ति वास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥

वस्तु के न होने पर भी 'यह नहीं है'—ऐसा प्रयोग होने से भी शब्द की संयोगात्मक नहीं मान सकते ।

वाक्यापीकसम्बन्धी ॥१८॥

शब्द और अर्थ परस्पर संयोगसम्बन्धरहित हैं ।

संयोगिनी कण्ठात् समवायिनी विशेषाच्च ॥१९॥

संयोगसम्बन्ध वाले द्रव्य ॥ तथा समवायसम्बन्ध वाले दूरत आदि से शब्द का विशेष—भेद है अतः शब्द का अर्थ के साथ संयोग या समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता ।

शाम्ययिकः शब्दावर्त्यप्रत्ययः ॥२०॥

शब्द के अर्थ की प्रतीति ईश्वरीय प्रेरणा से होती है ।

एकदिवकाभ्यामिककालाभ्यां सप्तिहृद्विप्रकुण्डाभ्यां परस्परं च ॥२१॥

एक ही दिशा में, एक ही काल में रहनेवाले दो मूर्त द्रव्यों के समीप और दूर होने से एक-दूसरे की अपेक्षा वहाँ परस्पर और अपरस्पर गुण व्यवहृत होते हैं ।

कारणपरत्वात् कारणपरत्वाच्च ॥२२॥

कारण के दूर और समीप होने से भी परस्पर और अपरस्पर होता है ।

परत्वापरत्वायोः परत्वापरत्वाभाजोऽनुत्पन्नहृत्वाभ्यां व्यत्ययः ॥२३॥

परस्पर और अपरस्पर में परस्पर और अपरस्पर का अभाव अनुत्पन्न और अनुत्पन्न के व्याख्यान से व्याख्यात समझ लेना चाहिए ।

कर्मभिः कर्मणि ॥२४॥

कर्म में कर्म नहीं होता—इस व्याख्यान से ही कर्म में परस्पर और अपरस्पर नहीं होता—यह स्पष्ट हो जाता है ।

गुणैर्गुणाः ॥२५॥

गुण में गुण के अभाव के वर्णन से ही गुण में परस्पर और अपरस्पर का अभाव स्पष्ट हो जाता है ।

द्वैतमिति यतः कार्यकारणयोः स सम्बन्धः ॥२६॥

जिससे कार्य और कारण में ऐसा प्रतीत होता है कि इस आधार में यह चापेय है (इसमें वह है) वह सम्बन्ध नामक सम्बन्ध समझा जाता है ।

इव्यत्यगुनकवयतिर्बो मायेन व्याख्यातः ॥२७॥

इव्यत्य और गुनक का विशेष भावसत्ता जाति के व्याख्यान द्वारा व्याख्यात
कमभूतः बाह्य ।

तत्त्व मायेन ॥२८॥

सत्ता के समान ही समवाय भी एक सत्त्व निरव है ।

॥ इति सप्तमाध्याये द्वितीयवार्तिकम् ॥

अष्टाष्टमाध्याये प्रथममाह्निकम्

इत्येव ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१॥

पुनिध्यादि द्रव्यों के विषय में ज्ञान की व्याख्या ही चुकी ।

तत्राहमा मनश्चात्रत्यसौ ॥२॥

उन द्रव्यों में आत्मा और मन का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

ज्ञाननिर्देशो ज्ञाननिष्पत्तिविधिस्ततः ॥३॥

ज्ञान-निर्देश के प्रसङ्ग (३।१।१८) में ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार बता दिया गया है ।

गुणकर्मसु तन्निवृत्त्येव सामान्यविशेषाकारणम् ॥४॥

इन्द्रियों से सम्बद्ध गुण तथा कर्मों के ज्ञान में द्रव्य कारण है । (इन्द्रियों के साथ गुण और कर्मों का संयोग होने पर रूप और बलि आदि का ज्ञान होता है ।)

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ॥५॥

सामान्य और विशेषों में दूसरे सामान्य और दूसरे विशेष के सम्भाव से उससे ही सामान्यविशेषविषयक ज्ञान हो जाता है ।

सामान्यविशेषाकारणं द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥

किन्तु द्रव्य-गुण-कर्मविषयक ज्ञान—इन सबमें रहनेवाले सामान्यविशेष ज्ञान की अपेक्षा रहता है ।

इत्येव द्रव्यगुणकर्मविशेषम् ॥७॥

द्रव्यविषयक तत्त्विकरूपक ज्ञान द्रव्य-गुण-कर्म की अपेक्षा—सहयोग से उत्पन्न होता है ।

गुणकर्मसु गुणकर्मभावाद् गुणकर्मविशेषं न विद्यते ॥८॥

गुण तथा कर्मों में गुण तथा कर्मों का सम्भाव रहने के कारण गुण तथा कर्म के ज्ञान की उत्पत्ति में गुण एवं कर्म की अपेक्षा नहीं होती है ।

समवायिनः स्वेतत्वात् स्वेतगुद्वेज्य स्वेते बुद्धिस्ते एते

कार्यकारणभूते ॥९॥

समवाय—नित्य सम्बन्ध से वर्तमान स्वेतगुण और स्वेतगुणविषयक विशेष ज्ञान से स्वेतपदार्थ में जो विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है—वे दोनों कार्य-कारणभावयुक्त होते हैं ।

इत्येवमितरेतरकारणाः ॥१०॥

अनेक द्रव्यों में जो अनेक ज्ञान उत्पन्न होने हैं, वे एक-दूसरे के कारण नहीं हैं ।

कारणाधीन्यन्तात् कारणकमात्रं घटपटादिबुद्धीनां कर्मो न
हेतुकलभावात् ॥११॥

ज्ञान के कारणों के दुषणम् — एकसाय न होने से तथा कारणों के कमपूर्वक होने से ही घट-पट आदि ज्ञानों में माया-पीछा होता है, उनमें परस्पर कार्य-कारणभाव होने के नहीं ।

॥ इत्यष्टमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अष्टमोऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

समयेष त्वया कृतं भोजनमिति बुध्ययेत्तम् ॥१॥

‘बहु है’, ‘बहु है’, ‘बहु होने किया है’, ‘इसको भोजन कराओ’—ऐसा प्रयोग-जन्य ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा रहता है ।

दृष्ट्वैव भाषादवृष्टेस्त्वभावात् ॥२॥

अत्यल दृष्ट पदार्थों में होने से और अत्यल पदार्थों में न होने से—होना और न होना माना जाता है ।

सर्व इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥३॥

द्रव्य-गुण-कर्म में ‘सर्व’ ऐसा व्यवहार किया जाता है । (अस्तुत वास्तव में सर्व का तात्पर्य है—द्रव्य-गुण और कर्म ।)

द्रव्येषु पञ्चजातकर्म प्रतिविद्धम् ॥४॥

कार्य-द्रव्यों में पञ्चात्मकता — पञ्चभूतों का नियोग किया गया है ।

भूतस्त्वाम् गन्धवस्त्वाम् पृथिवी गन्धजाते प्रकृतिः ॥५॥

बहुत होने से और गन्धवाली होने से पृथिवी गन्ध का ज्ञान करनेवाली वासिका इन्द्रिय में उपदान कारण है । (गन्धजातक ज्ञान का उपदान कारण पृथिवी ही है ।)

तथावस्तिजोधापुण्ड्र रसकृपस्पर्शविशेषात् ॥६॥

इसी प्रकार रस, कृप तथा स्पर्श के अधिक होने और रसादि समवायित्व होने के कारण ति ह्ला, चक्षु तथा त्वक् इन्द्रियों के उपदान भी अमयः जल, तेज और वायु हैं ।

॥ इत्यष्टमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ नवमाध्याये प्रथममाह्निकम्

किमागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥१॥

किन्ना घोर गुण का व्यवहार न होने से कार्यत्वति से पूर्व कार्य नहीं था, इस प्रतीति से कार्य का 'प्रागभाव' सिद्ध होता है ।

सद्यसत् ॥२॥

कारणरूप से विद्यमान अतएव सत् (घटादि) पदार्थ भी दुर्बलपात आदि से व्यस्त ही जाता है, इस प्रतीति से 'व्यवसाभाव' भी सिद्ध हो जाता है ।

असत्: किमागुणव्यपदेशाभावाद्यन्तिरम् ॥३॥

असत् = अभाव, अविद्यमान से सत् = भाव, विद्यमान भिन्न पदार्थ है क्योंकि असत् में किमा घोर गुण का व्यवहार नहीं होता ।

सम्भावसत् ॥४॥

विद्यमान पदार्थ भी सम्भावक कहा जाता है, इस प्रतीति से 'अन्वोन्वाभाव' भी सिद्ध होता है । (घट पट नहीं घोर पट पट नहीं । दोनों के विद्यमान रहते हुए भी दोनों का एक-दूसरे से भेद है ।)

व्यवसायव्यपदेशकसत् ॥५॥

पूर्वोक्त तीनों सम्भावों से भिन्न जो एक घोर सम्भाव है वह चौथा 'व्यवसायभाव' कहलाता है ।

असत्पि भूतप्रत्यक्षाभावाद् भूतसमुत्पिरोधिप्रत्यक्षसत् ॥६॥

'असत् नहीं है'—ऐसा जो जान है वह 'भूत'—उत्पन्न होकर पष्ट हुए घटादि के प्रत्यक्ष न होने से, परन्तु भूत का स्मरण हो जाने से 'विरोधिप्रत्यक्ष' के समान है ।

तत्त्वज्ञाने भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥७॥

इसी प्रकार असत् में भी सत् के प्रत्यक्ष होने से विवरीत लक्षण का बोध होना सम्भव है । (भाव के प्रत्यक्षयोग्य होने पर व्यवसायभाव की भाँति प्रागभाव का भी प्रत्यक्ष होता है ।)

एतेनावदोऽनौरचर्मवच आकम्पतः ॥८॥

इसी रीति से 'यह पट नहीं है', 'भाव नहीं है', 'वर्म नहीं है'—आदि सन्वोऽन्वभाव का प्रत्यक्ष भी समझ लेना चाहिए ।

अभूतं नास्तीत्यन्यन्तिरम् ॥९॥

'जो अभूत है' तथा 'जो नहीं है'—ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं, एक ही बात है । (अभूत और नास्ति—दोनों एकार्थी हैं ।)

नास्ति घटो मेहे इति ततो घटस्य मेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥१०॥

‘घट में घटा नहीं है’—इस प्रकार अन्यत्र विद्यमान घटे का घट के साथ संसर्ग का प्रतिषेध है ।

आत्मन्यात्मनसोः संयोजयित्वादात्मप्रत्यक्षम् ॥११॥

आत्मा में आत्मा और मन के संयोजयित्व से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥१२॥

इसी प्रकार आत्मा और मन के संयोग से प्रकृतिपर्यन्त अन्य सूक्ष्म द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष होता है ।

असमाहितान्तःकरण उपसंहृतमायमसौख्यं च ॥१३॥

जिनका अन्तःकरण निरन्तर समाधि में स्थित नहीं रहता (पुञ्ज्याय योगी) और जिन्होंने समाधि-ध्वंसना को पूर्वकल्पेन सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया है (मुक्त योगी)—
ऐसे दोनों प्रकार के योगियों को सब पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है ।

तस्मात्तत्त्वानाम् कर्मगुणेषु ॥१४॥

उन योगियों को द्रव्यों में समवाय से कर्मविषयक प्रत्यक्ष हो जाता है ।

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥१५॥

आत्मा में समवाय से आत्मा के चेतनत्वादि वा सूक्ष्म-द्रव्य आदि गुणों का प्रत्यक्ष हो जाता है ।

॥ इति पञ्चमाध्याये प्रथमार्जिकम् ॥

अथ त्रयमाध्याये द्वितीयमार्जिकम्

असौख्यं कार्यं कारणं संयोजि विरोधि समवायि चेति त्रीजिकम् ॥१॥

इस (साध्य) का यह कार्य है, यह कारण है, यह संयोजी है, यह विरोधी है और यह समवायि—सदा साथ भिन्ना रहनेवाला है—इसको एकार्थ समवायि त्रीजिक (त्रिजु से होबैवाला) ज्ञान कहा जाता है । (इसीको अनुमित ज्ञान भी कहते हैं ।)

असौख्यं कार्यंकरणसंयोजयित्वाद्यत्नानुवचति ॥२॥

इत लिङ्ग का यह लिङ्ग—व्याप्य है । इस प्रकार का लिङ्गलिङ्गि-सम्बन्ध प्रथमा व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध निश्चयपूर्वक भवत्य (प्रतिष्ठा, हेतु उदाहरण भवत्यो और निगमन) से होता है ।

एतेन साध्यं व्याख्यातम् ॥३॥

इत प्रत्यक्ष एवं त्रीजिक ज्ञान के व्याख्यान से शब्दबन्ध ज्ञान का व्याख्यान भी समाप्त होना चाहिये ।

हेतुरप्येतो लिङ्गप्रमाणं कार्यमित्यन्वयान्तरम् ॥४॥

हेतु, अप्येतो, लिङ्ग, प्रमाण, कारण—ये सब एकार्थनामी हैं ।

अस्येवमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥५॥

इस गिजूरी का यह सिद्ध अथवा इस कार्य का यह कारण—ऐसा ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा से होता है । (भलः उपमान आदि भी वृथक् प्रमाण नहीं हैं ।)

आत्ममग्नसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥६॥

आत्मा और मन के संयोगविशेष ॥ तथा संस्कार से स्मृतिज्ञान होता है ।

तथा स्वप्नः ॥७॥

उसी प्रकार आत्मा और मन के संयोगविशेष से तथा संस्कार से स्वप्नज्ञान होता है ।

स्वप्नावलोकम् ॥८॥

स्वप्न के अन्तर्गत होनेवाला स्वप्नज्ञान भी स्मृतिरूप होता है ।

धर्माच्च ॥९॥

धर्म और अधर्म से भी स्वप्नज्ञान होता है ।

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥१०॥

आँख, कान आदि इन्द्रियों में कोई दोष होने से और संस्कारों के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है ।

तद्बुद्धज्ञानम् ॥११॥

दोषपूर्ण ज्ञान का नाम अविद्या है ।

अबुद्धं विद्या ॥१२॥

जो ज्ञान दोषपूर्ण नहीं है, वह विद्या (प्रमा अथवा अथर्व ज्ञान) है ।

आर्यं सिद्धयर्थं च धर्मेभ्यः ॥१३॥

आर्य-ज्ञान और सिद्ध-पुरुषों को हुआ ज्ञान धर्म (पूर्वकृत पुण्यकर्मों) से उत्पन्न होता है ।

॥ इति नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ दशमाध्याये प्रथममाह्निकम्

दृष्टान्तिप्रकारविवेक्षाद् विरोधान्ध मिथः सुखदुःखयोरप्यन्तरभावः ॥१॥

दृष्ट (मात्सा, चन्द्रमादि) और अनिष्ट (कण्टकादि) में परस्पर भेद तथा विरोध के कारण सुख और दुःख परस्पर भिन्न पदार्थ हैं ।

संशयनिर्णयान्तराभावाच्च ज्ञानान्तराद्ये हेतुः ॥२॥

तथा, संशय और निर्णय—इन दोनों के अन्तर्गत न आता भी, सुख-दुःख के ज्ञान से भिन्न होने में, कारण है । (सुख और दुःख ज्ञान से भिन्न हैं, इसमें एक हेतु यह है कि ये दोनों न संशय के अन्तर्गत आते हैं, न निर्णय के ।)

तयोर्विध्वंसिः प्रत्यक्षतैर्ज्ञेयान्त्वाम् ॥३॥

सुख और दुःख इन दोनों की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान से होती है ।

अभूदित्यपि ॥४॥

भूतकाल में हुआ या और भविष्यत् में होगा—इससे भी सुख-दुःख का होना सिद्ध होता है ।

सति च कार्यवर्जनात् ॥५॥

सुख-दुःख के होने पर भी, सुख-दुःख का कार्य प्रत्यक्ष न देखे जाने से भी सुख-दुःख का होना सिद्ध होता है ।

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥६॥

एक द्रव्य (घाता) में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले विविध कारणों की विद्यमानता में उसी द्रव्य में समवेत सुख-दुःख की उत्पत्ति देखी जाती है ।

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषतश्चिन्तयेन्मयः ॥७॥

एक ही शरीर में शिर, पीठ, उदर, मर्मस्थल आदि, ऐसा व्यवहार शरीर के अंगमयों में है, इन अंगों की विशेषता उनके कारणविशेष से है ।

॥ इति दशमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥१॥

‘यह कारण है’, इस प्रकार व्यवहार द्रव्यों में होता है क्योंकि कार्य का समवाय-सम्बन्ध द्रव्य में ही होता है ।

संयोगादा ॥२॥

समवाय संयोग से भी समवायसम्बन्ध का होना सिद्ध होता है ।

कारणे समवायात् कर्माणि ॥३॥

समवायिकारण में समवेत होने से कर्म असमवायिकारण होते हैं ।

तथा कृते कारणैर्कार्यसमवायाच्च ॥४॥

उसी प्रकार कारण का कार्य से समवायसम्बन्ध होने से रूप आदि गुणों में भी कारण होना माना जाता है ।

कारणसमवायात् संयोगः कटस्य ॥५॥

तन्तु के समवायिकारण होने से उनका परस्पर संयोग कट का असमवायिकारण होता है ।

कारणकारणसमवायाच्च ॥६॥

तथा, कारण के कारण में समवाय से भी कहीं संयोग असमवायिकारण होता है ।

संयुक्तसमवायादन्वैर्वैशेषिकम् ॥७॥

संयुक्तसमवाय से अग्नि का विशेष गुण—उष्ण स्वर्ण पृथिवी में वायुमध्य आदि गुणों का निमित्त कारण होता है ।

बृष्टानां बृष्टप्रयोजनान्तं बृष्टाभावे प्रयोजोऽभ्युपगम्य ॥८॥

वेदादि में उपदिष्ट कर्म, इनको इस लोक में किया जाता है, तत्काल कल ५ विमने पर भी मोक्ष-मुक्त की प्राप्ति के लिए उनका अनुष्ठान करते ही रहना चाहिए ।

तदुच्यतेऽस्मादप्यत्र प्रामाण्यमिति ॥९॥

ईश्वर का कथन होने से वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है । सूत्र के अन्त में 'इति' पद अन्त्य-समाप्ति का सूचक है ।

॥ इति वज्रमाप्याये द्वितीयमाल्लिकम् ॥

॥ समाप्तं चेदं वैशेषिकदर्शनम् ॥